Toppersnotes®
Unleash the topper in you

UGC-NET

दर्शनशास्त्र

NATIONAL TESTING AGENCY (NTA)

पेपर – 2 || भाग – 1

**पारम्परिक भारतीय ज्ञान मीमांसा और तत्व मीमांसा ,
भारतीय नीतिशास्त्र एवं पाश्चात्य नीतिशास्त्र**

SIERRA INNOVATIONS

UGC NET - दर्शनशास्त्र

S. No.	Content	Page No.
1.	इकाई-1 पारम्परिक भारतीय ज्ञान मीमांसा और तत्व मीमांसा	1-50
	● वैदिक एवं औपनिषदिक	10
	● चार्वाक	21
	● जैनदर्शन	25
	● बौद्धधर्म	29
	● न्याय	33
	● वैशेषिक	37
	● सांख्य	39
	● योग	42
	● पूर्व-मीमांसा	45
	● वेदान्त ○ अद्वैत ○ विशिष्टाद्वैत ○ द्वैत ○ द्वैताद्वैत ○ शुद्धाद्वैत	48
2.	इकाई-III भारतीय नीतिशास्त्र	51-141
	● पुरुषार्थ, श्रेयस तथा प्रेयस की अवधारणा	51
	● वर्णाश्रम, धर्म, साधारण धर्म	57
	● ऋण तथा यज्ञ, कर्त्तव्य की अवधारणा	78

	● कर्मयोग, स्थितप्रज्ञ, स्वधर्म, लोकसंग्रह	95
	● अपूर्व तथा अदृष्ट	98
	● कर्म के नियम, नीतिपरक निहितार्थ	102
	● ऋत और सत्य	113
	● योग-क्षेम	122
	● अष्टांग योग	125
	● जैनवाद: संवर-निर्जरा, त्रि-रत्न, पंच-व्रत	130
	● बौद्धवाद : उपाय कौशल, ब्रह्मविहार : मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा. बोधिसत्व	135
	● चार्वाक का सुखवाद	138
3.	इकाई-IV पाश्चात्य नीतिशास्त्र	142-176
	● प्रयोजनवादी तथा अप्रयोजनवादी सिद्धान्तों में प्रतिपादित शुभ, अधिकार, न्याय, कर्तव्य, दायित्व, मूल सदगुण, आत्म-पूर्णतावाद तथा अन्त:प्रज्ञा की संकल्पनाएँ। ● अहंवाद, परार्थवाद, सार्वभौमिकवाद ● व्यक्तिनिष्टतावाद, सांस्कृतिक सापेक्षतावाद, अति-प्रकृतिवाद ● नैतिक यथार्थ, अन्त:प्रज्ञावाद ● कांट द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्त, नैतिकता की पूर्व मान्यताएं, शुभसंकल्प, निरपेक्ष आदेश,कर्त्तव्य, साधन और साध्य, सूक्तियाँ। ● उपयोगितावाद: उपयोगिता का सिद्धान्त, नैतिकता को संस्वीकृत करने तथा न्यायसंगत ठहराने की समस्या, उपयोगितावाद के प्रकार, बेंथम, जे.एस.मिल, सिडविक, बर्नर्ड विलियम्स के नैतिक सिद्धान्त। ● दंड के सिद्धांत ● नैतिक संज्ञानवाद तथा असंज्ञानवाद, संवेगवाद, आदेशवाद, वर्णनवाद।	

इकाई – 1

दर्शन की परिभाषा

दर्शन शब्द 'दृश् दर्शने' धातु से करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए, वही दर्शन है। यदि हम इस शब्द का यही रूढ़ अर्थ गृहीत करें तो चूंकि मानव चक्षु की सहायता से बाह्य पदार्थों को देखता है, इसलिए केवल चक्षुरिन्द्रिय ही दर्शन कहलाएगी तथा केवल उससे ग्राह्य विषय ही दार्शनिक विश्लेषण की परिधि में आयेंगे। इसीलिए दार्शनिक समप्रत्ययों में दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट् प्रत्यय' तथा भाव अर्थ में 'घञ् प्रत्यय' करके 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्' तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' को स्वीकार किया जाता है। 'प्रेक्षण' का अर्थ है – विचार करना, अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार विचार करने के सभी साधन तथा विचार क्रिया के समस्त विषय दर्शन के क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ को ऐसे समझा जा सकता है – मनुष्य एक कुशाग्रबुद्धि जीव है, जिसकी बुद्धि का एक अन्यतम बिन्दु जिज्ञासा है तथा यह जिज्ञासा मनुष्य में आदिकाल से ही रही है। इसी के आधार पर मनुष्य अपने दर्शन का निर्माण करता है तथा वही दर्शन विकसित होकर सिद्धान्तों एवं आविष्कारों का रूप ले लेता है। इसी विकास के क्रम में अन्तर्भूत भारतीय दार्शनिक मनीषियों ने अपनी जिज्ञासा एवं चिन्तन के बल पर वेदों को आधारभूत करके अपने भिन्न-भिन्न दर्शनों का प्रणयन किया। इसी दार्शनिक व्युत्पत्ति को प्रायः सभी दर्शनों में स्थान प्राप्त हुआ। इसी की व्याप्ति को मानकर करणार्थक ल्युट् प्रत्यय इङ्गित करता है- मनुष्य का वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है, उन सम्बन्धों का निर्धारण कैसे करें तथा इनको जानने के साधन क्या हैं ? इन सभी प्रश्नों का एकात्मक उत्तर दर्शन ही है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों का अध्ययन करने पर दर्शन शब्द एक अन्य अर्थ "प्रमाण" की भाँति प्रतीत होने लगता है, क्योकि दोनों ही शब्द करणार्थक हैं तथा साधन के रूप में अवस्थित हैं। इनका मुख्य कार्य ऐसे साधन के रूप में है जो कि अज्ञानादि की निवृत्तिपूर्वक यथार्थ-ज्ञान कराने वाला हो। अतः भारतीय दार्शनिकों ने दर्शन शब्द के देखना, जानना और प्रमा करना इत्यादि अर्थ परिष्कार रूप में स्वीकार किये हैं।

दर्शन का प्रधान लक्ष्य

जैसा कि दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है, दर्शन का सामान्यार्थ "देखना" केवल उसका इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष मात्र न होकर सत् को सत् के रूप में जानना है, अर्थात् वस्तु के मिथ्यात्व का परिहार करते हुए उसके यथार्थ स्वरूप को जानना। इसको लौकिक उदाहरण से समझा जा सकता है, जैसे – कोई व्यक्ति यदि ओदन (भात) की इच्छा करता है तो वह उसे प्राप्त करने के लिए तण्डुलचयन, तण्डुल-प्रक्षालन एवं पाकक्रिया के अनन्तर ही प्राप्त करता है। यहां उसका परमलक्ष्य तो ओदन की प्राप्ति ही है, परन्तु अन्य क्रियायें केवल उसकी सहायक मात्र ही है, न कि मुख्य । इसी प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने इस पर चिन्तन किया कि क्या सांसारिक सुख ही परमप्रयोजन हो सकते हैं? इस विषय पर प्रायः अधिकतर दार्शनिक एकमत हैं कि सांसारिक सुख केवल क्षणिक हैं, वे अधिक समय तक सुख प्रदान नहीं करते। तो वह कौन-सा ऐसा सुख है जो आत्यन्तिक है तथा आत्यन्तिक दुःख के अभाव वाला है। इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय दर्शन मोक्ष का उल्लेख करते हैं, यद्यपि इसकी व्याख्या भारतीय दर्शनों ने अलग-अलग रूप में की है तथापि इसकी आधारशिला आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःख के अभाव वाली है। सांख्य दर्शन में मुक्ति अर्थात् मोक्ष का स्वरूप तीनों प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के आत्यन्तिक अपघात को ही स्वीकृत किया गया है। इसका सारगर्भित विवेचन सांख्यकारिका की प्रथम कारिका में ही प्राप्त हो जाता है, जो कि इस प्रकार है -

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोऽभावात् ।।

त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्तिस्वरूप 'कैवल्य' की प्राप्ति के लिए प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान (विवेकख्याति/सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) मुमुक्षु के लिए विहित किया गया है। योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि हैं। इस दर्शन का परम लक्ष्य सूत्रकार ने कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति को माना है तथा इसकी प्राप्ति चित्तवृत्ति के निरोध से ही सम्भव है। जैसा कि उक्त है - "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प,

निद्रा, स्मृति) का निरोध है तथा इनके निरोध का साधन अभ्यास और वैराग्य हैं- "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" । एक वाक्य में यदि कहा जाए तो योग का मुख्य उद्देश्य कैवल्य की ही प्रप्ति है तथा जो केवल चित्तवृत्तियों के निरोध से ही सम्भव है।

न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं जो न्यायसूत्रों के रचनाकार हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम सूत्र में महर्षि गौतम ने परमलक्ष्य का निरूपण कुछ इस प्रकार से किया है –

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन–दृष्टांतसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभास-छलज तिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः'

अर्थात् इन षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति की जाती है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। इन्होनें वैशेषिक सूत्रों की रचना की। वैशेषिकदर्शन का परम लक्ष्य 'अपवर्ग' है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन सप्त पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान से अपवर्ग की सिद्धि होती है। मीमांसा दर्शन में परम लक्ष्य को लेकर मुख्य रूप से दो परम्पराएं प्रचलित हैं – प्राचीन व नव्य । इनमें प्रचीन मीमांसक स्वर्ग की प्राप्ति को ही परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं तथा स्वर्ग की व्याख्या कुछ इस प्रकार से करते हैं – "दुःखविरोधि सुखविशेषश्च स्वर्गः" अर्थात् स्वर्ग वही है जहाँ दुःखों का अत्यन्ताऽभाव तथा सुखविशेष की प्राप्ति हो। ये स्वर्ग को साध्य व यज्ञ को उसके साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। "स्वर्गकामो यजेत्" अर्थात् उस परमलक्ष्य स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ करना करना चाहिए, यह पंक्ति इनके इस मत का समर्थन करती है। परन्तु अर्वाचीन नव्य मीमांसकों की धारा में परम लक्ष्य के स्वरूप में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। इनके अनुसार मीमांसा का परमलक्ष्य निःश्रेयस प्राप्ति ही है। वेदान्त दर्शन में परम लक्ष्य के रूप में मुक्ति को स्वीकार किया गया है तथा इनकी मुक्ति का स्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्ममय या आनन्दमय हो जाना है। इसका समर्थन वेदान्तसार का यह उद्धरण प्रस्तुत करता है – "प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतेः, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतेश्च ।" नास्तिक शिरोमणि उपाधि से प्रचलित चार्वाक दर्शन के प्रणेता बृहस्पति को माना जाता है। यह दर्शन स्वयं को प्रत्यक्षवादी या भौतिकवादी मानता है। इनके यहां परम लक्ष्य का स्वरूप अन्य सभी दर्शनों से भिन्न है। यह संसार में ही प्राप्त हो सकने वाले भौतिक सुख, समृद्धि एवं उससे प्राप्त होने वाले आनन्द को ही मोक्ष के रूप में स्वीकार करता है। इस दर्शन की यह पंक्ति इनके मत को प्रकट करने में सक्षम है –

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

जैन दर्शन का परम लक्ष्य जीव को मोक्ष की प्राप्ति कराना है। इस दर्शन के अनुसार जीव यद्यपि स्वभावतः मुक्त तथा अनन्तचतुष्ट्यसम्पन्न (अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा, अनन्त वीर्य तथा अनन्त आनन्द) है किन्तु अविद्या के कारण वह 8 प्रकार के कर्मपुद्गलों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय) से संयोग कर लेता है एवं बन्धन से ग्रस्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने के लिए जीव को जैन तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत सात पदार्थों (जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष) का त्रिरत्नों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) के आचरण से सिद्धि प्राप्त करने का विधान है। इस प्रक्रिया से जीव के समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर 'मोक्ष' की प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध दर्शन में परम लक्ष्य को 'निर्वाण' कहा जाता है। बुद्ध के 'आर्यचतुष्टय' (दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध एवं दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपद) वचनानुसार संसार दुःखमय है तथा मनुष्य के समस्त दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। 'आर्याष्टांगिक मार्ग' (सम्यक् दृ ष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि) पर चलकर दुःखों का सर्वदा के लिए अभाव हो जाता है, इसे ही 'निर्वाण' कहा जाता है ।

विश्व के सभी दर्शनों के समान भारतीय दर्शनों ने भी अपने वैविध्यपूर्ण परमतत्त्व (परमात्मतत्त्व या परमसत्ता) की स्थापना करने का महनीय प्रयत्न किया है। भारतीय दर्शनों का एक अन्य वैशिष्ट्य यह भी है कि भारतीय दर्शनों में

न केवल श्रुत्याधारित तर्कों के आधार पर परमतत्त्व की सत्ता एवं स्वरूप का निरूपण किया गया है, अपितु परमसत्ता-विषयक जिज्ञासा को भी विशद् रूप से वर्णित किया गया है, जिसमें लेशमात्र भी लाघव दृष्टिगोचर नही होता है। भारतीय दर्शनों में व्याप्त परमसत्ता का स्वरूप तथा उसके दर्शन के उपाय क्रमशः इस प्रकार है -

- **सांख्य दर्शन**

  यद्यपि सांख्यदर्शन में प्रकृति तथा पुरुष का ही विस्तृत विवेचन तथा प्राधान्य अकाट्य तर्कों से प्रतिपादित किया गया है, तथापि त्रिगुणादि से समन्वित प्रकृतितत्त्व के अचेतन होने से तथा पुरुष के मोक्षार्थ निरुपित होने के कारण सांख्य-रीति में पुरुष का ही प्राधान्य एवं सर्वस्व स्वीकृत होता है। सांख्य के अनुसार पुरुष को आत्मबोध तथा अपने स्वरूप का ज्ञान प्रकृति तथा उसके कार्यस्वरूप महदादि के द्वारा होता है तथा वह अपने लक्ष्यस्वरूप अपवर्ग की प्राप्ति भी बुद्धि के विकारस्वरूप ज्ञान के द्वारा ही करता है। अतः सांख्य की रीति के अनुसार प्रकृति स्वयं की तथा अपने कार्यों की अचेतनता को बोधित करवाती हुई पुरुष को उसके आत्मस्वरूप का ज्ञान कराती है। इस प्रकार सांख्य के अनुसार पुरुष के दर्शन का उपाय प्रकृति एवं उसके कार्य हैं। जैसा कि उक्त है –

  रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
  सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।। (सांख्यकारिका, 63)

- **योग दर्शन**

  योगदर्शन ने आमुक्तकण्ठ से ईश्वर को ही परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। इसके अनुसार ईश्वर ही संसार का निमित्त कारण है। यहाँप्रकृति एवं पुरुष के संयोग में ईश्वर ही हेतु है; क्योंकि प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही जगत् की सृष्टि तथा वियोग से ही जगत् स्वकारणों में प्रलीन होता है। अतः प्रकृति-पुरुष के संयोग एवं वियोग का एक ही निमित्त कारण सम्भव है, जो कि सर्वशक्तिमान ईश्वर है। इस सर्वशक्तिमान ईश्वर के स्वरूप को निरूपित करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है - 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक तथा कर्मजनित संस्कार रूप आशय से रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है।
  इस ईश्वर की परमसत्ता को तथा परमलक्ष्यभूत 'कैवल्य' को असम्प्रज्ञातसमाधि के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है जो कि अष्टाङ्ग योग के माध्यम से ही सम्भव है। ये अष्टाङ्ग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि है।

- **न्याय–वैशेषिक दर्शन**

  न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के अध्ययन से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि ये दोनों दर्शन एक ही परमात्मतत्त्व ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रायः एक ही रीति से ईश्वर के स्वरूप को निरूपित किया गया है, जिसके अनुसार ईश्वर जगत् का आदिकर्त्ता, पालक तथा संहारक है। इसी ईश्वर को उन्होनें परमात्मा के रूप में वर्णित किया है तथा इसे ही सर्वज्ञ पद से अभिहित किया गया है। इसी क्रम में न्याय-वैशेषिक ने ईश्वर को अनुमानवेद्य स्वीकृत किया है। न्यायकुसुमांजलिकार ने ईश्वर की सत्ता सिद्धि में 8 हेतु दिये हैं-

  "कार्ययोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
  वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।"

  'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितंडाहेत्वाभासच्छ लजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसाधिगमः' (न्यायसूत्र, 1.1.1) के अनुसार प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। वैशेषिकदर्शन का परम लक्ष्य 'अपवर्ग' है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन सप्त पदार्थों के साधर्मय-वैधम्य ज्ञान से अपवर्ग की सिद्धि होती है ।

- **मीमांसा**

मीमांसा-दर्शन में परमसत्ता का निरूपण अत्यन्त अस्फुट तथा गूढ है। क्योकि मीमांसा के प्रतिष्ठापक आचार्य जैमिनी ने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र से धर्म को ही प्रारम्भ में मानव का लक्ष्य सिद्ध किया तथा उसके उपाय के रूप में विधिसम्मत यज्ञों का प्रतिपादन किया। इस यज्ञ-मीमांसा का एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें यज्ञीय देवताओं की ही सत्ता को स्वीकार किया गया। अतः मीमांसा के आदिम ग्रन्थों में लौकिक देववाद को न स्वीकृत करके केवल यज्ञीय देवताओं को ही स्वीकृत किया गया था एवं ईश्वर को स्वर्गादि फल में हेतु नही माना गया, परन्तु उत्तरकालीन मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता एवं सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकृत किया, जिसमें 'सेश्वरमीमांसा' तथा 'प्रभाकरविजय' ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। इनके अनुसार ईश्वर 'श्रुत्याधारितशब्दप्रमाणवेद्य' है।

- **वेदान्त**

वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित 'वेदान्तो नामोपनिषदत्प्रमाणम्' इस वाक्य से ज्ञात होता है कि वेदान्तदर्शन उपनिषद् को ही प्रमाण स्वीकृत करता है। इन्हीं उपनिषदों में निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म दोनों को ही परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु आचार्य शंकर का अद्वैतवेदान्त केवल निर्गुण परब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव एवं ब्रह्म अभिन्न हैं किन्तु जब जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है तो उसका यह अज्ञान ही बन्धन का मूलकारण है। जब कोई अधिकारी जिज्ञासु सांसारिक दुःखों से पीड़ित होकर गुरु के सान्निध्य में जाता है तो आचार्य उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश करता है। इस महावाक्य के अखण्डार्थ का बोध होने पर मुमुक्षु को जीव-ब्रह्मैक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके उपरान्त मुमुक्षु 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते हुए 'ब्रह्मसाक्षात्कार' कर लेता है। यही मोक्ष की स्थिति है।

भारतीय दर्शनों में मुख्य रूप से प्रतिपादित किये गये परमलक्ष्य एवं परमसत्ता आदि ज्ञान की योग्यता क्या है तथा इसका अधिकारी कौन हो सकता है एवं उसका स्वरूप क्या है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय दर्शन में अधिकारी को प्रमाता इत्यादि पदों से भी अभिहित किया जाता है। भारतीय दर्शन के समालोचन से यह ज्ञात होता है कि अधिकारी की प्रथम योग्यता दर्शनविषयक जिज्ञासा है। वस्तुतः भारतीय दर्शन में निहित ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा प्रमाता को अधिकृत करके ही पूर्ण होती है। भारतीय दर्शन की ऐतिहासिकता से ज्ञात होता है कि इसका आविर्भाव ही विशेष-प्रयोजनार्थ हुआ है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों की वेदमूलकता के कारण वैदिककाल में इनके अधिकारी के लिए वैदिक वाक्यों में जिज्ञासा एवं श्रद्धान्वित होना आवश्यक धर्म था, परन्तु कालान्तर में भौतिक तत्त्वों के प्राधान्य के कारण नित्यादि लौकिक कर्मों को भी अधिकारी के लिए आवश्यक रूप में प्रतिपादित किया गया। वस्तुतः भिन्न-भिन्न दर्शनों की मीमांसा के अनुसार प्रत्येक दर्शन के अधिकारी का सूक्ष्म भेद प्राप्त होता है, परन्तु आत्मज्ञान रूप एक प्रयोजन के कारण दर्शनविषयक जिज्ञासा अधिकारी का एक सामान्य गुण है। सभी भारतीय दर्शन मानव जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए ज्ञानमार्ग का विधान करते हैं। इस ज्ञानराशि का ग्रहण करने के लिए साधक (मुमुक्षु) का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल होना चाहिए क्योंकि जब तक मन विशुद्ध नहीं होता है तब तक वह बार-बार साधना पथ से भटककर विषयभोगों में जाता रहता है। भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में कहा भी है -

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।(भगवद्गीता, 6/35)

साधक का मन एवं इन्द्रियाँ जब तक विषयोन्मुख रहेंगी तब तक संसरण का चक्र अनवरत चलता रहेगा। इसीलिए योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने कैवल्य की लब्धि के लिए 'चित्तवृत्तिनिरोध' का मार्ग उपदिष्ट किया है। जो भी साधक अपने मन (चित्त/अंतःकरण) एवं इन्द्रियों पर संयम कर लेता है वही ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी बन जाता है।

भारतीय दर्शनों में वेदान्तदर्शन ने अधिकारी की योग्यता का विस्तृत विवेचन किया गया है। जैसा कि वेदान्तसार में उक्त है –

'अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल–वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिक–प्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्ट्यसम्पन्नः प्रमाता।' (वेदान्तसार, खण्ड 4)

अर्थात् जिसने इस जन्म में अथवा इससे पूर्व किसी जन्म में वेद तथा वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदार्थ को सामान्य रूप से ज्ञात कर लिया है तथा काम्य (वांछित) एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना कर्मों से अपने स्वान्त को पवित्र किया है। इस प्रकार पापक्षय से परिपत साधनचतुष्ट्य से समन्वित ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु ही वेदान्त के अधिकारी हैं। इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के अनुसार धर्म का जिज्ञासु मीमांसाशास्त्र का अधिकारी है।

वेदान्तशास्त्र में यह भी कहा गया है कि ब्रह्मनिष्ठ आचार्य को ब्रह्म का ज्ञानोपदेश ऐसे ही मुमुक्षु को प्रदान करना चाहिए जो कि अधिकारी होने की योग्यता से युक्त हो - प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे । गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षव । ।(उपदेशसाहस्री, 324) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक दर्शन में परमलक्ष्य की प्राप्ति के अनुसार अधिकारी की योग्यता को निर्धारित किया गया है, जिसमें प्रत्येक दर्शन के प्रमुख तत्त्व के प्रति श्रद्धान्वित होना ही प्रत्येक दर्शन के अधिकारी की विशिष्ट योग्यता है।

आक्षेप और उनका परिहार

भारतीय दर्शन को रूढिवादी एवं पारम्परिक स्वीकृत करके पश्चिमी दार्शनिकों एवं चार्वाक जैसे भारतीय मनीषियों ने भी अनेक प्रकार के आक्षेपों से खण्डित किया है तथा भारतीय दर्शन की परम्परा को वृक्ष की एक ही शाखा में विराजमान अनुकरणीय पक्षियों से उपमान्वित किया है, जिसका तात्पर्य है कि बिना तर्कों एवं विचारों के पूर्व सिद्धान्तों का सहसा अनुकरण करना। अतः उनका आक्षेप है कि भारतीय दर्शन श्रुति वाक्यों को ही तर्क के रूप में स्वीकृत करते है तथा उन श्रुतियों के बिना लोक में प्रचलित किसी भी तर्क को स्वीकृत नही करते है। अतः लोकसिद्ध वस्तुओं को प्रमाणों के आधार पर भी न स्वीकृत करना भारतीय दर्शनों की अल्पता है, ऐसा पश्चिमी दार्शनिकों का अभिमत है।

परन्तु भारतीय दर्शनों की प्रमाणमीमांसा एवं तत्त्वसिद्धि की सरणि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पश्चिमी दार्शनिकों द्वारा किये गये आक्षेप सत्य के धरातल पर स्थित नहीं होते हैं। यदि एक वाक्य में कहा जाये तो भारतीय दार्शनिक एक ऐसे वस्त्रनिर्माता के समान है, जो श्रुतिरूपी तन्तुओं के संयोग से अपने सिद्धान्तरूपी पट का निर्माण करते है तथा उसे ही प्रमाण रूप में स्वीकृत करते है। क्योकि तर्क का कोई भी अन्त नही हो सकता है एवं एक बड़ा तार्किक अपने से अल्पज्ञ तार्किक के सिद्धान्त का खण्डन कर सकता है। अतः केवल तर्क ही निश्चयात्मक ज्ञान का उत्पादक नही हो सकता है। इसी विचारसरणि से महान् तार्किक महर्षि गौतम एव शंकरादि सहमत थे। अतः उन्होने योगज प्रत्यक्ष द्वारा समाहित श्रुतियों को तर्कों से प्रबल प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया।

श्रुत्यावलम्बन के अतिरिक्त एक अन्य आक्षेप भारतीय दर्शनों की अप्रगतिशील विचारधारा पर है। परन्तु यह भी युक्तियुक्त प्रतीत नही होता है। भारतीय दर्शनों की विविधता तथा इसके टीकाकारों द्वारा अपने विचारों का स्वतन्त्र प्रकटन भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता का परिचायक है। भारतीय दार्शनिक प्राचीनकाल से ही अद्यावधि पर्यन्त स्वतन्त्र विचारधारा के पक्षधर है, परन्तु वह युक्तयुक्त तथा तर्कसंगत होना आवश्यक है। जैसे – नास्तिकशिरोमणि चार्वाक द्वारा वैदिक दर्शन के विपरीत ईश्वर के अस्तित्व स्वीकार न करना तथा वैदिक सिद्धान्तों का खण्डन करना भी भारतीय दार्शनिकों की प्रगतिशीलता को द्योतित करता है क्योंकि भारतीय दार्शनिकों ने चार्वाक के दर्शन को भी स्थान प्रदान किया तथा उसके कतिपय सिद्धान्तों का महिमामण्डन भी किया गया। अतः भारतीय दर्शन सदैव से ही प्रगतिशील विचारों से समन्वित है ।। भारतीय दर्शन में मानव जीवन का परम लक्ष्य 'मोक्ष' को स्वीकार किया गया है । ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति अथवा निरतिशय-आनन्दानुभूति रूप मोक्ष की उपलब्धि विभिन्न भारतीय दर्शनों द्वारा उपदिष्ट साधनापद्धतियों का अनुपालन करने से देहनाश के उपरान्त होती है। चार्वाक दर्शन एवं

पाश्चात्य दर्शन इस पर आक्षेप करते हैं कि (क) भौतिकतावादी वर्तमान युग में मोक्ष अर्थशून्य एवं अप्रासंगिक है। (ख) वर्तमान सुखों का परित्याग करके भावी आनन्द की प्रतीक्षा अनुचित है। (ग) मोक्षावस्था में नित्यानन्द की अनुभूति से अब होने लगेगी जो कि मोक्ष की संकल्पना में मनोवैज्ञानिक असंगति दोष है। इन आक्षेपों के उत्तरस्वरूप सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवनव्यापी अनुभूति के रूप में प्रस्तावित करते हैं। सभी का यह मानना है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन दुःखों से आप्लावित है। भौतिक सुखों की अभिलाषा में मनुष्य जो भी प्रयत्न करता है, वे सभी प्रयत्न अत्यन्त दुःखसाध्य हैं तथा उनसे प्राप्त सुखरुपी फल भी क्षणिक होने के कारण अन्ततः दुःख की ही अनुभूति कराता है। इसी तथ्य को निरुपित करते हुए महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में कहा है'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (योगसूत्र, 2.15)। प्रत्येक मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने जीवन में केवल और केवल सुखों का आकांक्षी होता है एवं उसकी यह कामना होती है कि यह सुख उसके जीवन में नित्य-निरन्तर बना रहे तथा उसे दुःखों की अनुभूति कभी न हो। ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति अथवा निरतिशय आनन्दानुभूति की यह अभिलाषा ही उसे ऐसे लक्ष्य का अन्वेषण करने के लिए प्रेरित करती है जिसकी उपलब्धि हो जाने पर वह समस्त कष्टों से निवृत्त हो जाय। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सभी भारतीय दर्शन प्रवृत्त होते हैं तथा इसके लिए 'मोक्ष' की अवधारणा का ख्यापन करते हैं। अतः यह आक्षेप नितान्त अनुचित है कि वर्तमान में मोक्ष अर्थशून्य एवं अप्रासंगिक है। मोक्ष के भावी जीवन में उपलब्ध होने के कारण वर्तमान में सुखों का परित्याग करके प्रतीक्षादोष का आक्षेप करने वालों के प्रति भारतीय दार्शनिकों का उत्तर है कि मोक्ष एक जीवनव्यापी अनुभूति है। कोई भी साधक विभिन्न दर्शनों में निरुपित ज्ञानप्रक्रिया का अवलम्बन करके वर्तमान में भी मोक्षावस्था की अनुभूति कर सकता है। इसीलिए भारतीय दर्शन में 'जीवनमुक्ति' के सिद्धान्त का विशद् विवेचन किया गया है। भारतीय दर्शन में बताई गई आचारमीमांसा का अनुसरण करके व्यक्ति सकारात्मक चिन्तन के माध्यम से न केवल अपना नैतिक उत्थान कर सकता है अपितु वह परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व की उन्नति में भी सक्रिय एवं उपयोगी योगदान दे सकता है। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक असंगति के आक्षेप का प्रश्न है तो उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मानवमात्र की यह स्वाभाविक अनुभूति है कि वह स्वयं को अत्यन्त प्रिय पदार्थ के अनवरत उपभोग से कभी भी उबता नहीं है अपितु वह उसे सर्वदा प्राप्त करते रहना चाहता है। चूंकि मोक्ष ऐसी ही अवस्था है जिसके लब्ध हो जाने पर अनवरत आनन्द बना रहेगा, इसलिए मोक्ष मार्ग पर चलना व्यक्ति के लिए उचित भी है एवं प्रासंगिक भी है।

दर्शनों का वर्गीकरण

भारतीय दर्शनों को मुख्यतः आस्तिक एवं नास्तिक के भेद से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। इस भेदात्मक स्वरूप का आधार वेदप्रामाण्य का स्वीकरण है। जो दर्शन वेदों में श्रद्धा रखते हैं अर्थात् वैदिक वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, उन्हे आस्तिक दर्शन कहते हैं तथा जो वेदों की निन्दा करने वाले अर्थात् वेदों को प्रामाणिक स्वीकृत नही करते हैं, उन्हें नास्तिक कहा जाता है, जैसे कि कहा भी गया है - नास्तिको वेदनिन्दकः । इस वर्गीकरण के अनुसार सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-वेदान्त ये 6 दर्शन आस्तिक दर्शन की कोटि में आते हैं तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्ध दर्शन को नास्तिक कोटि में रखा जाता है।

भारतीय दर्शनों का एक अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण किया जाता है - वस्तुवादी (यथार्थवादी) एवं प्रत्ययवादी (विज्ञानवादी) दर्शन। इस वर्गीकरण का आधार जगत् एवं जागतिक पदार्थों की सत्ता की स्वीकृति है। वे दर्शन जो बाह्य जगत् एवं जगत् में अनुभूयमान विविध पदार्थों को सत्य मानते हैं, वे 'वस्तुवादी दर्शन' कहलाते हैं जबकि वे दर्शन सम्प्रदाय जो जगत् की सत्ता को वास्तविक न मानकर इसे मिथ्या मानते हैं, वे 'प्रत्ययवादी दर्शन' कहलाते हैं। वस्तुवादी दर्शनों का मानना है कि बाह्य जगत् में हमारी इन्द्रियाँ अथवा हमारा अन्तःकरण वस्तुओं को गृहीत करता है तथा हम उनके साथ व्यवहार को सम्पन्न करते है इसलिए यह समस्त अनुभव एवं प्रतीतियाँ असत्य नहीं कही जा सकती हैं । प्रत्ययवादी दार्शनिकों के इस तर्क का कि स्वाप्निक एवं भ्रमात्मक अनुभवों के साम्य से जगत की प्रतीति को मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है, इसका उत्तर देते हुए वस्तुवादियों का कहना है कि यद्यपि हमें जगत् में कदाचित् ऐसा अनुभव भी होता है जिसमें एक वस्तु जो जिस स्वरूप एवं स्वभाव की नहीं है वह उस स्वरूप एवं स्वभाव की समझ ली जाती है अर्थात् हमें एक वस्तु में उससे नितान्त भिन्न दूसरी वस्तु का ज्ञान हो जाता है, जिसे

भ्रम कहा जाता है; जैसे – रस्सी को देखकर सर्प की प्रतीति हो जाना, शुक्तिका में रजत का अनुभव इत्यादि। किन्तु ये प्रतीतियाँ क्षणिक हैं एवं यथार्थज्ञान के उदित होते ही ऐसा भ्रमात्मक अनुभव बाधित हो जाता है अतः इस तर्क के आधार पर बाह्य जगत को असत्य मानना असंगत एवं अतार्किक है। प्रत्ययवादी दार्शनिक जगत को मिथ्या सिद्ध करने के लिए स्वप्न के दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार हम स्वप्न में पदार्थों को वैसा एवं उसी रूप का देखते हैं जैसाकि हमें जाग्रत अवस्था में इस जन्म अथवा पूर्व के किसी जन्म में उन पदार्थों का अनुभव हुआ था किन्तु जब हम स्वप्नावस्था से बाहर आते हैं तो हमें यह ज्ञान हो जाता है कि स्वाप्निक पदार्थ असत्य या मिथ्या हैं। इन पदार्थों की केवल प्रतीतिमात्र (प्रत्ययमात्र) होती है जिनकी कल्पना अन्तःकरण (मन या बुद्धि) द्वारा की जाती है। इसी प्रकार जाग्रतावस्था में भी पदार्थों का अस्तित्व वास्तविक नहीं होता है, वहाँ भी इनकी सत्ता बुद्धि अथवा मन के द्वारा कल्पित ही होती है, अतः जगत वास्तविक न होकर मिथ्या है। इसी विवेचन को आधार मानकर सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, चार्वाक, जैन, भक्तिवेदान्त, वैभाषिक बौद्ध 'वस्तुवादी दर्शन' की कोटि में आते हैं तथा अद्वैतवेदान्त, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद 'प्रत्ययवादी दर्शन' कहे जाते हैं।

दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध

भारतीय दर्शनों का व्यापक अर्थों में अध्ययन करने पर यह प्रतीत हो जाता है कि यद्यपि सभी दर्शनों द्वारा की गई दार्शनिक मीमांसा अलग-अलग प्रतीत होती हैं तथापि इनमें एक सार्वभौमिक संबन्ध की प्रतीति होती ही है। जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है

भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता।
शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते।।

इस पद्य का आशय यही है कि जैसे – प्रयागराज जाने के लिए मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु गन्तव्य तो एक ही है। ऐसे ही भारतीय दर्शनों में मतवैभिन्य होने पर भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। इसी को भारतीय दर्शनों में अलग-अलग प्रकार से व्यक्त किया है। भारतीय दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय को द्योतित करने वाले अनेक बिन्दु हैं जिनमें से प्रथम बिन्दु है – 'व्यावहारिकता' |

भारतीय दर्शन की जितनी भी शाखाएं हैं उन सबका उद्देश्य व्यावहारिक है। वे सभी मानव के वर्तमान जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का विश्लेषण करते हैं तथा उनसे मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। यह अत्यन्त रोचक है कि प्रत्ययवादी दार्शनिक जो कि जगत् को वास्तविक सत्ता नहीं मानते हैं; उन्होंने भी व्यवहार के स्तर पर जगत् को सत् मान लिया है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत में दर्शन जीवन का प्रतिबिम्ब है। एक सच्चा दार्शनिक नित्य-प्रतिदिन के जीवन में अनुभूत होने वाली विविध अनुभूतियों को ही अपने दार्शनिक विश्लेषण का विषय बनाता है। यदि कोई दर्शन जीवन को उपेक्षित करता है तो भारतीय जनमानस उसे दर्शन की कोटि में भी नहीं मानता है।

द्वितीय बिन्दु है – 'लक्ष्य की एकता'। समस्त भारतीय दर्शनों का परमलक्ष्य अन्ततः एक ही है और वह है 'जागतिक दुःख की निवृत्ति'। विशुद्ध भौतिकतावादी चार्वाक से लेकर पराप्रत्ययवादी विज्ञानवाद तक सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रधान लक्ष्य है मनुष्य को अनुभूत होने वाले दुःखत्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति । यद्यपि इस दुःखनिवृत्ति का उपाय प्रत्येक दर्शन में पृथक्-पृथक् निरुपित किया गया है किन्तु सभी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि उनका प्रधान लक्ष्य मानव जीवन के दुखों की निवृत्ति ही है।

तृतीय बिन्दु है- 'अविद्या से बन्धन एवं तत्त्वज्ञान से मुक्तिलाभ' । प्रायः सभी भारतीय दर्शन यह मानते हैं कि मनुष्य के समस्त दुखों का मूलकारण अविद्या या अज्ञान है। अविद्या को भारतीय चिन्तन परम्परा में क्लेशरूप कहा गया है जिसके कारण ही मनुष्य तत्व के वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता है तथा कर्म, कर्मसंस्कार एवं कर्मफल के बन्धन में उलझकर विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त द्वारा एक चक्र के माध्यम से मनुष्य के इस संसरण को सुन्दर ढंग से व्याख्यायित किया गया है। द्वादशनिदानचक्र या भवचक्र के अनुसार अविद्या-संस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-तृष्णा-उपादान-भव-जातिजरामरण का चक्र तब तक प्रवर्तमान रहता है जब तक व्यक्ति तत्त्वबोध के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता है। जैन मतानुसार

अविद्या के कारण जीव 8 प्रकार के कर्मपुद्गलों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय) से संयोग कर लेता है एवं बन्धन से ग्रस्त हो जाता है। बन्धन से मुक्त होने के लिए जीव को जैन तत्त्वमीमांसा में स्वीकृत सात पदार्थों (जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा एवं मोक्ष) का त्रिरत्नों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र) के आचरण से सिद्धि प्राप्त करने का विधान है।

न्याय – वैशेषिक दर्शन के अनुसार अज्ञान के कारण आत्मा कर्म में प्रवृत्त होता है जिससे धर्माधर्मरूप अदृष्टसंस्कार आत्मा में संचित होते रहते हैं जिनके फलोपभोग हेतु आत्मा का संसरण होता रहता है । इस प्रकार अज्ञान ही बन्धन का मूल है। इस बन्धन से निवृत्ति के लिए न्यायदर्शन में प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान का तथा वैशेषिक दर्शन में द्रव्यादि सात पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान उपदिष्ट किया गया है। सांख्य–योग दर्शन के अनुसार पुरुष विशुद्ध चैतन्यरूप, असंग, उदासीन एवं नित्यमुक्त है किन्तु बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब (चितिच्छायापत्ति) के कारण वह प्रकृतिकृत धर्मों को अज्ञानवशात अपना मान लेता है तथा स्वयं को बद्ध समझने लगता है। इस बन्धन से निवृत्ति हेतु सांख्य–योग में प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। पूर्वमीमांसा दर्शन में भी अज्ञान के कारण ही आत्मा विषय के सम्पर्क में आकर सुख-दुःख की अनुभूति करता है एवं बन्धन में पड़ जाता है। वेदविहित यागादि कर्मों के आचरणपूर्वक आत्मतत्त्व का ज्ञान करने से (कर्मज्ञानसमुच्चय) मोक्ष की प्राप्ति होती है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव एवं ब्रह्म अभिन्न हैं किन्तु जब जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है तो उसका यह अज्ञान ही बन्धन का मूलकारण है। जब कोई अधिकारी जिज्ञासु सांसारिकदुःखों से पीड़ित होकर गुरु के सान्निध्य में जाता है तो आचार्य उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश करता है। इस महावाक्य के अखण्डार्थ का बोध होने पर मुमुक्षु को जीव-ब्रह्मैक्य का ज्ञान हो जाता है। इसके उपरान्त मुमुक्षु 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करते हुए 'ब्रह्मसाक्षात्कार' कर लेता है। यही 'ब्रह्मसाक्षात्कार' मोक्ष की स्थिति है।

दर्शनों में परस्पर समन्वय का चतुर्थ बिन्दु है – आचारमीमांसा का प्रतिपादन। समस्त दर्शनों में दार्शनिक तत्वों के विश्लेषण के लिए तीन प्रविधियों का प्रयोग पाया जाता है - तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा। भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा के गहन अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक दर्शन में तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के साथ आचारमीमांसा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुतः दर्शन का प्रयोजन ही मानव का नैतिक उत्थान है, जिसके लिए कर्मसिद्धान्त एवं अन्य साधनापद्धतियों का सूक्ष्म विश्लेषण हमें प्रत्येक भारतीय दर्शन में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों में एक सैद्धान्तिक संबन्ध भी दृष्टिगोचर होता है।

न्याय एवं वैशेषिक

जिस प्रकार गौतम द्वारा प्रचलित न्यायदर्शन तथा कणाद द्वारा स्थापित वैशेषिकदर्शन अपनी तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा के कारण वैचित्र्यपूर्ण प्रतीत होता है परन्तु ईश्वरकर्तृक परमाणु संयोग सिद्धान्त तथा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूपी मोक्ष मार्ग जैसे प्रतिष्ठित सिद्धान्तो में साम्यता प्रस्तुत होना एवं समान रीति का अनुकरण करना न्याय एवं वैशेषिक को एक ही धारा में समाहित करता है।

सांख्य एवं योग इन दोनों दर्शनों में एक मूलभूत समानता दृष्टिगोचर होती है कि सांख्यसिद्धान्त की तत्वमीमांसा के अन्तर्गत 25 तत्वों का विवेचन किया गया है तथा योग दर्शन की तत्वमीमांसा में उन्ही 25 तत्वों को स्वीकार करके एक ईश्वर को ही पृथक् रूप में स्वीकृत कर 26वाँ तत्व स्वीकार किया है अन्य सभी 25 तत्व दोनों में समान हैं। इसके अनन्तर एक सैद्धान्तिक समानता भी है -जहाँ सांख्य ईश्वर की सत्ता स्वीकार नही करता है परन्तु सांख्य में प्रकृति के चाञ्चल्य स्वभाव को वर्णित करना एवं सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का मानव के स्वभाव में भेद कारण सिद्ध करना योग को भी स्वीकार है। यही सरणि सांख्य एवं योग की एकरूपात्मकता को सिद्ध करती है।

मीमांसा एवं वेदान्त

वेदों की कर्म मीमांसा को प्रतिपादित करने वाली पूर्वमीमांसा वेदों की ब्रह्म मीमांसा का एक विशिष्ट अंग है, क्योंकि धर्म मीमांसा से शुद्ध चित्त ही ब्रह्ममीमांसा में एकाकारित होने की योग्यता रखता है। अतः पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा दोनों ही मीमांसा की धारा एक ही सिद्धान्त की अवच्छिन्न दो धाराएं हैं। इस प्रकार से ज्ञात होता है कि प्रायः

सभी भारतीय दर्शनों में तत्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा का एक सूक्ष्म भेद तो प्राप्त होता है परन्तु यह भेद वास्तविक न होकर प्रातिभासिक ही है, क्योंकि सभी दर्शनों का परम लक्ष्य मानव का कल्याण मात्र है। मानव सभ्यता के आद्य वांग्मय ऋग्वेद की सूक्ति 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' भारतीय दर्शनों के परस्पर सम्बन्ध एवं समन्वय पर पूर्णतः सार्थक होती है। इसी समन्वय को पुष्पदन्त के निम्नलिखित श्लोक से भी पुष्ट किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ अन्त में समुद्र में ही स्थान प्राप्त करती हैं उसी प्रकार प्राणियों के भेदानुसार विभिन्न दार्शनिक सरल एवं कठिन के भेद से अपने विचारों का उद्भावन करते हैं किन्तु सभी का एकमात्र उद्देश्य मानवकल्याण ही है -

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।(शिवमहिम्नस्तोत, 7)

वेद और उपनिषद्

वेदों में अनेक दार्शनिक सूत्र बिखरे पड़े है। उन्हें व्यवस्थित कर एक दार्शनिक-तंत्र का निर्माण करना, कठिन ही नहीं, बल्कि लगभाग असंभव ही है। हम यहाँ केवल कुछ प्रमुख वैदिक अवधारणाओं को स्पष्ट करना चाहेंगे। वे हैं (१) वेदों में एकत्ववाद (२)ऋत का सिद्धांत (३) वेदों में देवताओं का स्वरूप और (४) विश्वोत्पत्ति।

एकत्ववाद

वैदिक साहित्य का प्रमुख दार्शनिक स्वर आध्यात्मिक और एकत्ववादी है यथापि वैदिक साहित्य में किसी एक दार्शनिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया गया है किन्त उसका प्रमख स्वर अध्यात्मवाद और एकत्ववाद है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं की आराधना की गई है। उससे ऐसा प्रतीत होता है मानों बहुदेववाद की वहां प्रतिष्ठा की गई हो,किन्तु ऐसा नहीं है। ऋग्वेद के सभी देवता एकमेव परमात्मा की ही अभिव्यक्तियाँ हैं और एक जो परम है, वही अंतिम सत्ता है। देवताओं के माध्यम से परमात्मा की ही आराधना की गई है ।ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है, "एक सद्विप्रा बहुदा वदन्ति,... "अर्थात, एक ही सत्ता को अनेक प्रकार से कहा गया है, कोई अग्नि कोई यम कोई वायु कहता है इत्यादि। वेदों में इस एकत्ववाद की झलक हमें सर्वत्र दिखाई देती है। प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में कहा गया है कि एक ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इस ईश्वर को विश्व में निहित और विश्वातीत, दोनों ही बताया गया है। वेदों में इसी एकेश्वरवाद की परिणति उपनिषदों में एक्तत्ववाद में हुई है। पाश्चात्य व्याख्याकारों की वैदिक व्याख्या पूर्वाग्रह युक्त है।

वेदों के अधिकतर पाश्चात्य व्याख्याकारों ने, और उनका अनुगमन करते हुए कतिपय भारतीय व्याख्याकारों ने भी,वेदों को गड़रियों के गीत कहकर उसका मजाक उड़ाया है। उनका मानना है कि वेदों में प्रकृतिवादी और बहुदेववादी दार्शनिक प्रवृत्तियों का समावेश है। जबकि वास्तव में जैसा कि हम बता चुके हैं, वेदों में ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है। वे गड़रियों के गीत नहीं हैं और न ही वे भौतिकवादी और बहुदेववादी हैं।

वस्तुतः इस अवधारणा को कभी मान्य नहीं किया जा सकता। इसके पीछे पाश्चात्य व्याख्याकारों का यह पूर्वाग्रह रहा है कि मूल आर्य जाति के लोग जब भारत आए और यहाँ बसने लगे तब वे असभ्य और बर्बर थे, यदि नहीं भी थे तो भी उनकी सभ्यता इतनी विकसित नहीं थी कि उसे आदिम नहीं कहा जा सके। प्रकति की कभी मनभावन और कभी भयानक गतिविधियों को देखकर वे आश्चर्य में पड़ जाते थे और फिर, उनका मानवीकरण कर उन्हें देवता बना देते थे तथा उनकी स्तुति, प्रार्थना पूजा करने लगते थे। पाश्चात्य व्याख्याकारों के अनुसार वेदों में हमें यही प्रकृतिवाद और मानावारोपित बहुदेववाद मिलता है।

वेदों की पाश्चात्य व्याख्या को स्वीकार कर लेना वैदिक साहित्य के बारे में केवल अज्ञानता का द्योतक है। वस्तुतः सही स्थिति तो यह थी कि आर्य जाति सभ्यता के एक ऐसे स्तर पर पहुँची हुई थी जो उस समय की किसी भी अन्य जाति को प्राप्त नहीं था। इनमें से अनेक ऐसे ऋषि-मुनि थे जिन्होंने परम सत्ता की रहस्यमय अनुभूतियाँ प्राप्त कर ली थी और इन अनुभवों को ऋचाओं के माध्यम से वाणी दी थी। वैदिक साहित्य की ये ऋचाएं स्पष्टतः आध्यात्मिक और एकत्ववादी दार्शनिक सिद्धांतों की और संकेत करती हैं।

ऋत का सिद्धांत

ऋत वैदिक साहित्य में प्रकृति की एकरूपता का सिद्धांत है।

"ऋत" वैदिक दर्शन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। वैदिक मन्त्रों में इसे एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। ऋत का शाब्दिक अर्थ घटनाओं के गति-क्रम से है। मूल आशय प्रकृति की एकरूपता या घटनाओं और वस्तुओं की व्यवस्था से है, जैसे, दिन और रात का नियमित रूप से बदलना, या सूर्य और तारों की नियमित गति, व्यवस्थित रूप से ऋतुओं का आना और जाना, इत्यादि। ऋत, इस प्रकार विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था की और संकेत करता है। वेदों में देवताओं को ऋत का संरक्षक (ऋतस्य गोपा) और ऋत के अनुसार आचरण करने वाला (ऋतायु) कहा गया है। ऋत का उल्लंघन देवता भी नहीं कर सकते। ऋत सारे परिवर्तनों के मूल में निहित है।

विश्व में नियमित परिवर्तन को संभव बनाने वाला ऋत का ही अपरिवर्तनीय सिद्धांत है। सारे परिवर्तन के मूल में ऋत है जो स्वयं अचल है। सभी परिवर्तन वस्तुतरू ऋत की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। नदियाँ ऋत के अनुसार बहती बताई गईं हैं दृऋतंपत्ति सिंघवरू। हर परिवर्तन की पृष्ठभूमि में ऋत ही कार्यरत है। विश्व का चलायमान क्रम ऋत की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। पवन सुदूर ऋत के स्थान से आती है, आकाश और पृथ्वी ऋत के कारण ही अपनी अपनी जगह स्थित हैं। इस प्रकार हमें वैदिक अवधारणा,ऋत, मेंउस अपरिवर्तनीय सत्ता का प्रथम संकेत मिल जाता है, जो परिवर्तन संभव बनाता है। ऋत का मार्ग नैतिक मार्ग है।

ऋत की अवधारणा मूलतः प्रकृति की गति का नियमन और निर्धारण है किन्तु यह सिद्धांत क्रमशरू नैतिक पथ का प्रतीक भी बन गया। इसे न्याय-मार्ग भी मान लिया गया। जिस तरह प्रकृति का ऋत मार्ग पर चलना सही मार्ग पर चलना है उसी तरह मानुष का सही आचरण भी ऋतमार्ग ही है। इस प्रकार ऋत जो मूलतरू प्राकृतिक नियम था धीरे धीरे "नैतिक नियम" के रूप में भी देखा जाने लगा और कालान्तर में मानव प्रसंग में यह कर्म-सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह कर्म-सिद्धांत का एक प्रकार से पूर्वानुमान है। ऋत नैतिकता का मापदंड प्रदान करता है।
ऋत सत्य है। अनत असत्य है, सत्य का विरोधी है।इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋत के कई आयाम हैं। वह प्रकृति में एकरूपता का सिद्धांत है। यह चलायमानविश्व के मूल में अपरिवर्तनीय सत्ता है। सदाचार का नैतिक नियम है। कर्म सिद्धांत का पूर्वानुमान है। और अंत में ऋत की इस अवधारणा में यह भी निहित है कि विश्व व्यवस्था मूलतः नैतिक व्यवस्था है।

वैदिक देवता

हम पहले ही इस बात का संकेत कर चुके हैं कि वैदिक दर्शन का प्रमुख स्वर एकत्ववादी और आध्यात्मवादी है तथा विभिन्न वैदिक देवता एक ही आध्यात्मिक तत्व की अनेक अभिव्यक्तियाँ। ये देवता प्राकृतिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अग्नि और वायु आदि देवताओं के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ये वर्णन देवताओं की किसी चारित्रिक विशेषता को नहीं बताते बल्कि अग्नि और वायु जो प्राकृतिक तत्व हैं उन्हीं के स्वरूप का वर्णन करते हैं।
देव वह है जो मनुष्य को देता है।

वैदिक साहित्य में "देव" एक रहस्यमय शब्द है। देव वह है जो मनुष्य को देता है ईश्वर देव है क्योंकि वह सारे विश्व को देता है। विद्वान देव है क्योंकि वह विद्या को देता है। सर्य चन्द्र आकाश देव हैं क्योंकि वे सष्टि को प्रकाश देते हैं। माता पिता देव हैं क्योंकि वे निर्देशन देते हैं। वैदिक साहित्य में अनेक देवों का वर्णन है

"मित्र और 'वरुण' – मित्र और वरुण,ये दोनों देवता साथ साथ रहते हैं मित्र का आह्वाहन प्रायः वरुण के साथ ही किया जाता है। मित्र कभी कभी सूर्य और कभी कभी प्रकाश का प्रतिनिधित्व करता है। मित्र और वरुण दोनों ही आदित्य के पुत्र हैं। मित्र बारह आदित्यों में प्रथम हैं। ये दोनों देवता ऋत के संरक्षक हैं। वरुण आकाश के अधिपति हैं और पश्चिम दिशा के दिक्पाल हैं। इसीलिए मित्र का साहचर्य प्रात: कालीन प्रकाश है। वरुण का सम्बन्ध रात्रिकालीन आकाश से है। वैदिक साहित्य में वरुण को आकाश का अधिष्ठाता माना गया है किन्तु पुराणों में उन्हें जल का अधिपति कहा गया है। ऋग्वेद में वरुण को अग्नि के सामान तेजस्वी और सहन नेत्रों वाला बताया गया है। ये इंद्र और सूर्य की कोटि के देवता है। नैतिक और भौतिक नियमों के संचालक हैं। वे सृष्टि का सतत् अवलोकन करते हैं। इन्हीं के कारण रात और दिन का नियम स्थिर है।।

"सूर्य' – ऋग्वेद में सूर्य को संबोधित कई ऋचाएं है। सूर्य जीवन और प्रकाश का दाता है। सूर्य की अनेक अप्राकृतिक शक्तियां भी हैं। चल और अचल सभी का अस्तित्व "सूर्य" के कारण ही है। वह सारे विश्व के कार्य कलापों पर अपनी दृष्टि टिकाए रखता है। वह मनुष्यों को अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है अन्धकार मिटा कर प्रकाश देता है। सूर्य इस प्रकार सारे जगत का निर्माण करता है और उसको संचालित करता है। सूर्य के लिए कहा गया है कि वे प्रजापति ऋषि कश्यप के पुत्र हैं। अदिति के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। विश्वकर्मा की पुत्री से इनका विवाह हुआ, इनकी दूसरी पत्नी का नाम छाया था।

"सविता" - सविता भी एक देवता है। ऋग्वेद में अनेक ऋचाएं सविता को संबोधित हैं। इन्हें स्वर्ण नेत्र, स्वर्ण हाथों और स्वर्ण जिह्वा वाला कहा गया है। कभी कभी इन्हें सूर्य का पर्यायवाची भी माना गया है। गायत्री मन्त्र सविता के रूप में ही सूर्य को संबोधित है। सविता न केवल दिन के सूर्य का, बल्कि रात में न दिखाई देने वाले सूर्य का भी प्रतिनिधित्व करती है। सविता पापों को क्षमा करने वाली है।

"विष्णु" – सूर्य का एक रूप विष्णु भी हैं। वे समस्त जगत के पालनहार हैं। उनकी महानता को कोई छू नहीं सकता। ऋग्वेद में विष्णु को "वृहद्शरीर" कहा गया है, अर्थात, सारा विश्व ही उनका शरीर है। विष्णु अपने उपासकों के आह्वान पर उनकी सहायता करने तुरंत आते हैं। "उषस" प्रतिदिन प्रातःकाल प्रकाश और जीवन देने वाली देवी हैं। अश्वनी और सूर्य के प्रेमी हैं, लेकिन जैसे ही वे अपनी सुवर्ण किरणों से इसका आलिंगन करना चाहते हैं वह तिरोहित हो जाती

पूषन - एक अन्य सौर देवता पूषन हैं। ये ऋग्वेद के एक प्रमुख प्रभावशाली देव हैं। पूषन संभवतः सूर्य का ही नामान्तर है। इनके स्वभाव की बहुविध चर्चाएँ ऋग्वेद में वर्णित हैं। इनकी पत्नी का नाम "सूर्या" है। ये प्रमुख रूप से ग्राम देवता हैं।

अश्वनि - सूर्य के दो जुड़वां पुत्र हैं, दिन और रात । सूर्य और चन्द्र का क्रमशः ये प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों को उषस का साहचर्य प्राप्त है। वेदों में इन्हें उष स का आह्वान करने वाला बताया गया है। ये सुन्दर, चपल, चमकीले और युवा है। संभवतः अन्धकार और प्रकाश के संक्रमण काल में भोर के ये तारे है। ये कृपालु हैं और सभी क्लेशों के तारनहार हैं।

'अदिति'- अदिति का शाब्दिक अर्थ है, जो बंधा न हो, खंडित न हो। अदिति उस फैलाव और विस्तार के देवता हैं जो हमारी धरती से परे है। ऋग्वेद में कहा गया है, अदिति आकाश है। अदिति क्षितिज है। अदिति माता,पिता और पुत्र हैं। जिसने भी जन्म लिया है और जो भी जन्म लेगा वह अदिति है। अदिति की यह अवधारणा सर्वव्यापी क्षमताओं की अवधारणा है। यह लगभा सांख्य की 'प्रकृ ति से मिलती-जुलती अवधारणा है। अदिति को सभी के अस्तित्व का अधिष्ठान अथवा गर्भ कहा गया है। यह प्रकृति, पृथ्वी और वाणी का प्रतिनिधित्व करती है। विशेषकर बच्चों और पशुओं के कलां और संरक्षण का दायित्व लेती है। क्षमाशील

'अग्नि'- ऋग्वेद के प्रधान देवताओं में से एक अग्नि भी है। वेद में लगभग २०० ऋचाएं अग्नि को संबोधित हैं। अग्नि परमात्मा के मुख से उत्पन्न है। अग्नि की स्त्री का नाम स्वाहा है। दक्षिण-पूर्व कोण इसके रहने का स्थान है। सूर्य, इंद्र

और अग्नि यह त्रयी अत्यंत पावन बताई गई है।

"पर्जन्य" – आकाश का देवता है। पृथ्वी को परिजन्य की पत्नी बताया गया है। वेदों में पृथ्वी को माँ और आकाश को पिता बताया गया है। पर्जन्य वर्षा और मेघ का देव भी है। वह सारे विश्व पर शासन करता है। सभी प्राणियों का वह आश्रय है। वह चराचर का जीवन है पर्जन्य का चमकाना सर्वाधिक भय उत्पन्न करता है। इंद्र कहते हैं- हाँ, जब मैं गरज और तड़ित भेजता हूँ तभी तुम मुझ पर विश्वास करते हो ।

"इंद्र" – वेदों के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता इंद्र हैं। यह वर्षा के देवता हैं और भारत में भौतिक समृद्धि वर्षा पर ही आधारित है। इंद्र ताजगी और बल प्रदान करने वाले हैं। वे जल, आकाश, धरती और पहाड़ सभी पर शासन करने वाले देव हैं। मनुष्य को सर्वोत्तम विचारों और प्रवृत्तियों से प्रेरित करने वाले हैं। युद्ध में संघर्षरत योद्धा इंद्र का आह्वान करते हैं। वे अपने असीमित बल द्वारा शत्रुओं पर विजय संभव बनाते हैं।

वेदों में कई अन्य देवी-देवताओं का भी जिक्र है किन्तु वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनका सन्दर्भ भी बहुत कम आया है।

विश्व व्यवस्था

ऋग्वेद के "नासदीय – सूक्त" और यजुर्वेदके "पुरुष-सूक्त" में विश्योत्पत्ति का एक विकसित दार्शनिक सिद्धांत हमें वेदों में प्राप्त है ।

नासदीय सूक्त – ऋगवेद का नासदीय सूक्त "सृष्टि का गान" है और विश्व साहित्य में उसका अपना एक स्थान है । इस सक्त में हम वेदों में व्यक्त एकत्त विचार से परिचित होते हैं। वहां रचनाकार ऋषि ने कारणता के सिद्धांत को स्वीकार किया है और सारे विश्व का उद्गम एक अकेले स्रोत में माना है। इस स्रोत के स्वभाव पर भी विचार किया गया है। इसके अनुसार शुभ और अशुभ, सत और असत् जीवन और मृत्यु में एक अद्विन्द है। यह एक आतरिक द्वैत है। इसका समाधान उच्चतर सिद्धांत द्वारा जो सभी द्वैत से परे है, किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व की उत्पत्ति किसी वाह्य शक्ति द्वारा नहीं हुई है बल्कि एक अतीन्द्रीय प्रथम कारण के स्वतः स्फूर्त विकास से ही दृश्य जगत बना है। आदि कारण जो "एक" है की अवधारणा पूर्णतः निर्वैयक्तिक है। इसमें कोई रहस्य नहीं है। "तद् एकम"एक ऐसा वाक्यांश है जो इस बात का संकेत देता है इस "एक' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही विश्व का अंतिम सिद्धांत है। उपनिषदों में बाद में विस्तार से विकसित एकत्ववाद की स्पष्ट झलक हमें इस सूक्त में मिलाती है। बेशक नासदीय सक्त कई जगह बहत अस्पष्ट है और इसका अनुवाद इसीलिए बहुत कठिन है। किन्तु मोटे तौर पर यह एकत्ववाद की ओर इशारा करता है, यह बिलकुल साफ है।

पुरुष सूक्त

यजुर्वेद का पुरुष सूक्त एक प्रकार से नासदीय सूक्त की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें सृष्टि का उपादान कारण विराट पुरुष बताया गया है जिसके शरीर से सृष्टि की रचना हुई है। यहाँ सृष्टि की रचना को यज्ञ के रूप में लिया गया है जिसमे पुरुष की बलि दे दी गई है। सृष्टि की यह कवि-कल्पना बहुत ही उदात्त है। किन्तु मूल रूप से इसमें भी उसी एकत्वाद की पुष्टि की गई है जो हमें नासदीय सूक्त में मिलती है।

उपनिषद्

उपनिषदों में वैदिक शिक्षा का सार है।
उपनिषदों में वेदों का सार है। ये वेदों के बाद विकसित हुए। वस्तुतः बाद में जितने भी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय हुए हैं उनकी नींव उपनिषद् ही हैं। भारत में ऐसा कोई महत्वपूर्ण दर्शन नहीं है जिसकी जड़ें उपनिषदों में देखी न जा सकें। उपनिषद क्योंकि वेदों के अंतिम भाग है, इसलिए इन्हें वेद, अंत, वेदान्त, भी कहते

उपनिषद् शब्द का शब्दार्थ समर्पण भाव से निकट बैठना है।

'उप' का अर्थ निकट है, नि' से तात्पर्य समर्पण-भाव है और "सद" माने बैठना है। अतः उपनिषद् से तात्पर्य गुरु के पास श्रद्धापूर्वक बैठ कर विश्व के रहस्य को जानना है।

उपनिषद का एक अन्य अर्थ भी है। वह है, गुप्त ज्ञान। यह गुप्त ज्ञान गुरु हरेक को नहीं देता। जो शिक्षार्थी स्वयं को इसका अधिकारी सिद्ध कर देता है वही गुप्त ज्ञान का पात्र होता है। "प्रश्न उपनिषद्' में जिज्ञासु परम सत्य को जानने के लिए गरु के पास जाते हैं। लेकिन गरु एक वर्ष तक उन्हें अपने साथ रहने के लिए कहता है। उसका उद्देश्य यह परखना था कि इनमें से कोई सर्वोच्च विद्या का अधिकारी है भी या नहीं। इसी प्रकार 'कठ उपनिषद्' में नचिकेता जब मृत्यु के बाद आत्मा के बारे में जानने के लिए यम के पास जाता है तो उसे अपने जिज्ञासा का तुरंत उत्तर नहीं मिलता। यम पहले नचिकेता की लगन और विश्वसनीयता की परीक्षा करता है। गुप्त ज्ञान हरेक को आसानी से नहीं मिल जाता।

भारत में हर दर्शन किसी न किसी अभद्र भावना से आरम्भ होता है और उसे नाश करने के उपाय में समाप्त होता है। उपनिषद में जो "सद" है उसका अर्थ नाश से भी है। दुःख, अज्ञान आदि ऐसी ही भावनाएं हैं। शंकराचार्य के अनुसार उपनिषदों की शिक्षा हमारे जन्मजात अज्ञान का नाश करने में सहायक है।

क्योंकि उपनिषदों की दिलचस्पी हमारी किसी न किसी अभद्र भावना के विनाश की रही है अतः वह संतोष और आशावादिता जो हमें वैदिक चिंतन में दिखाई देती है उपनिषदों में उपस्थित नहीं है। वैदिक साहित्य में मनुष्य एक ऐसे जगत में रहता है जहां सुख और चैन है। लेकिन उपनिषदों में मनुष्य असंतुष्ट और जिज्ञासु है। वह दुःख और अज्ञान का अनुभव करता है और यही अभद्र भाव उसे चितन के लिए मजबूर करता है। किन्तु अज्ञान से आरम्भ हुआ उपनिषदीय चिंतन निराशावादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह जानते-मानते हुए कि जीवन दुखमय है, कि जीवन-मरण का चक्र कभी समाप्त नहीं होता, कि संसार की हर चीज अस्थाई और परिवर्तनशील है और इसी का नाम संसार है, कि मनुष्य स्वयं अपने आत्म तक के बारे में अज्ञानी है, फिर भी उपनिषदों की शिक्षा इन सब सीमाओं, कमियों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की है, ना कि इनके सामने आत्म समर्पण करने की है। उपनिषदों में अनेक विचारकों का उल्लेख मिलता है।

कई चितकों के नाम लिए जा सकते हैं, जैसे अजातशत्रु, उद्दालक, ऐतरेय, गार्गी, मैत्रेयी, शांता कुमार, महिदास, रैक्व, शांडिल्य, सत्यकाम, जाबाला, जयावलि, श्वेतकेतु, भारद्वाज, बालाकी, याज्ञवल्क, इत्यादि। किन्तु इनके जीवन के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। इसका एक बड़ा कारण शायद यह रहा है कि उस काल में दार्शनिक अपने चितन को सामने रखकर स्वयं पीछे पृष्ठ-भूमि में रहता था। अहम-नाश की बात करता था और स्वयं इसका पालन भी करता था। एक बात और जो उपनिषद् काल में सामने आई वह यह कि उस समय स्त्रियाँ भी दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में कम नहीं थीं। गार्गी, मैत्रेयी, जाबाला आदि, इसका उदाहरण हैं। उपनिषदों में हमें कोई एक दार्शनिक मत नहीं मिलता।

अनेक दार्शनिक मतों के संकेत इनमें स्पष्ट: दिखाई देते हैं। वेदों की ही भाँति उपनिषदों में भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि इनमें कुल मिलाकर एकत्ववादी प्रत्ययवाद या कहें प्रत्ययवादी एकत्ववाद पर आग्रह है। उपनिषदों में जो दार्शनिक चर्चाएँ हैं वे लगभग सभी इस बात की और संकेत करती हैं कि जागतिक प्रवृत्तियों के पीछे उनके संचालन हेतु एक आध्यात्मिक परम सत्ता होनी चाहिए। उपनिषद् के चिन्तक हमें सत् चित् और आनंदस्वरूप परम सत्ता की ओर अग्रसर करते हैं तथा असत् से सत् की तरफ, अन्धकार से प्रकाश की तरफ तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर प्रस्थान करने की प्रार्थना करते है। "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माअमृतं गमय" | उपनिषदों का उद्देश्य मानव मन को शान्ति प्रदान करना है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि उपनिषदों में हमें अनेक तत्वमीमांसक वार्ताएं और दार्शनिक संवाद मिलते हैं जो कई दार्शनिक सिद्धांतों की और संकेत करते हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है की उपनिषदों का उद्देश्य किन्हीं दार्शनिक मतों का प्रतिपादन इतना नहीं है जितना मनुष्य की बेचैनी को शांत करना है और उसे स्वतन्त्र चिंतन की ओर उन्मुख करना है। उपनिषदों में किसी एक मत का दार्शनिक प्रतिपादन नहीं हुआ है। उपनिषद जीवन के कठिन तथ्यों के समक्ष बहुत कुछ काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। उपनिषदों का केन्द्रीय विषय सत्य की खोज है।

उपनिषदों का असंतुष्ट चिन्तक बहुत जिज्ञासु है। यथास्थिति से असंतुष्ट उपनिषदों के जिज्ञासु चिंतकों के प्रश्न रोजमर्रा की समस्याओं के सन्दर्भ में न होकर समस्याओं के मूल कारणों को समझने में होता है। उदाहरणार्थ श्वेताश्वतरोपनिषद में आरम्भ में जिज्ञासु पूछता है, इस जगत का मुख्य कारण क्या है? हम किसलिए उत्पन्न हुए हैं? किससे जी रहे हैं? और हमारी स्थिति किस प्रकार की है? किन अवस्थाओं में हमें दःख सख होता है? इसी प्रकार केन उपनिषद में पूछा गया है, हमारी प्रेरणा का क्या स्रोत है? मन, वचन, वाणी, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ आदि, अपने अपने विषयों में कैसे प्रवृत्त होती हैं? वह क्या है जो आँख को दृष्टि, कान को श्रवण और वाणी को वाणी प्रदान करता है? इन सभी प्रश्नों के पीछे संकेत यह है कि विश्व के संचालन हेत एक परम सत्ता होनी चाहिए। कहा जाता है कि उपनिषदों की संख्या 100 से अधिक है। लेकिन सभी उपनिषद् हमें उपलब्ध नहीं हैं। महत्वपूर्ण और प्रमुख उपनिषद् गिने चुने ही हैं, जैसे, केन, ईश, कठ, प्रश्न, मुन्डक्य, तैत्रिरीय, छान्दोग्य और बृहदारन्यक आदि।

आत्म ज्ञान

अनेक उपनिषदों में आत्मन के स्वभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। देवता गण इंद्र और विरोचन को प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के लिए भेजते हैं। आत्म ज्ञान का अधिकारी

बनाने के लिए प्रजापति इन दोनों को बत्तीस वर्ष तक आध्यात्मिक अनशासन में रहने के लिए कहते हैं। बाद में वे दोनों अपने गुरु के पास आत्म-ज्ञान के लिए वापस आते हैं। प्रजापति तब धीरे धीरे क्रमशः आत्मन के वास्तविक स्वभाव को स्पष्ट करते हैं। इसके लिए नेति नेति का मार्ग अपनाया गया है, क्या आत्मा हमारे शरीर की प्रतिच्छाया है? क्या आत्मा स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाली सत्ता है? क्या आत्मा स्वप्न रहित सुषुप्त अवस्था में रहने वाला अमूर्त तत्व है? इन सभी बातों का एक एक करके परीक्षण किया जाता है। तब कहीं आत्मन के वास्तविक स्वभाव तक पहुंचा जा सका है।

आत्म ज्ञान – (1) आत्मन शरीर नहीं है।

इंद्र और विरोचन के वापस लौटने पर प्रजापति ने उनको कहा की वह व्यक्ति जिसे हम आँख से देखते हैं या जिसकी पानी में या दर्पण में प्रतिच्छाया देखते हैं, वही आत्मा है। इस जाणारी से विरोचन तो संतुष्ट हो गया किन्तु इंद्र के मन में कई संदेह उठने लगे। वह सोचने लगा आत्मा भला शरीर की प्रतिच्छाया कैसे हो सकती है? यदि शरीर सुन्दर है, सजा हुआ है तो क्या आत्मा भी सुन्दर और सजी हुई होगी? यदि शरीर अंधा और लंगडा है तो क्या आत्मा भी अंधी और लंगडी होगी? और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि शरीर मर जाता है, नष्ट हो जाता है तो क्या आत्मा भी मर जाती है और नष्ट हो जाती है? शिष्य जब अपनी इन शंकाओं को अपने गरु के समक्ष प्रस्तुत करता है तो प्रजापति उसकी बात मान जाते हैं और उसे बताते हैं की आत्मा वास्तव में शरीर नहीं है। तब वे एक दूसरा विकल्प सुझाते हैं।

आत्म ज्ञान - (2) स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाली वस्तु भी आत्मन नहीं है।

गुरुजी कहते हैं कि ठीक है आत्मन शरीर नहीं है। फिर आत्मन हो न हो वह तत्व है जो स्वप्न में स्वतन्त्र विचरण करता है। स्वप्न में स्वतन्त्र विचरण करने वाला देह दोषों से मुक्त होता है, वह सुन्दर या असुंदर, स्वस्थ या अस्वस्थ नहीं होता। वही आत्मन है। इंद्र इससे भी संतुष्ट नहीं हुए। उनकी शंका थी की भले ही स्वप्न देखने वाला शारीरिक न हो किन्तु भय इत्यादि भावनाओं का अनुभव तो वह भी करता है। स्वप्न में वह खुश होता है, दुखी होता है, इत्यादि। इंद्र के इस संदेह को भी प्रजापति स्वीकार करते हैं। वे एक तीसरा विकल्प प्रस्तुत करते है।

आत्म-ज्ञान – (3) स्वप्न रहित सुप्त अवस्था में रहने वाला तत्व भी आत्मन नहीं है।

यदि स्वप्न अवस्था में मुक्त विचरने वाला आत्मन नहीं है तो हो सकता है स्वप्नरहित सुप्त अवस्था में रहने वाला आत्मन हो। गहरी सुप्त अवस्था में आत्मा सभी भावनाओं से मुक्त होती है। उसे भय सुख दुःख कुछ नहीं सालता। लेकिन इंद्र इस उत्तर से भी संतुष्ट नहीं हुए। स्वप्न रहित सुप्त अवस्था तो एक ऐसी अवस्था है जो पूरी तरह विषय हीं होने से एक अमूर्त वास्तु भर रह जाती है । उसका तो ज्ञान, कर्म, भावना आदि सभी कुछ विलुप्त हो जाता है, फिर वह आत्मा कैसे हो सकती है, वह तो शून्य है! गुरु प्रजापति इस शंका से बेहद प्रसन्न हो जाते हैं और कहते हैं कि इसमे कोई संदेह नहीं कि आत्मन न तो शरीर है, न स्वप्न है न सुप्त अवस्था है और न ही नितांत अमूर्त शून्य है। वह केवल आकारगत अवधारणा नहीं है।

आत्म ज्ञान – (4) आत्मन व्यक्ति और उसके व्यापारों की पूर्व-मान्यता है, अधिष्ठान है।

आत्मा वस्तुतः जाग्रत, स्वप्न और सुप्त अवस्थाओं से परे है और सभी का अधिष्ठान है। ज्ञान की पूर्व मान्यता है। आत्मन सर्वव्यापी और अन्तर्यामी भी है। अनुभवातीत है। इन्द्रियाँ उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। सारा विश्व आत्मन में ही जीता है। इसी में गतिमान है और इसी में श्वास लेता है। आत्मन अमर है। आत्म प्रकाशित है। आत्म सिद्ध है। सभी संशयों और नाकारों से परे है। यह वस्तुत: वह है जिसपर सभी शंकाएं और संदेह टिके हैं, जो विचार को संभव बनाते हैं। यह वह अंतिम विषयी है, ज्ञाता है जो कभी विषय नहीं हो सकता, ज्ञेय नहीं हो सकता। यह समस्त ज्ञान की पूर्वमान्यता है। यह एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में अभिव्यक्त है। इसमें आत्मा और अनात्मा का द्वैत तिरोहित हो जाता है।

वृहदारंयक उपनिषद में भी याज्ञवल्क कहते हैं की आत्मन ही अंततः ज्ञाता है। उसे हम ज्ञेय की भाँती कभी नहीं जान सकते और फिर भी यह एक अमूर्त प्रत्यय नहीं हैं। निरा शून्य नहीं है क्योंकि ज्ञाता के ज्ञान का कभी विनाश नहीं होता। वह सदा प्रकाशमान है।